॥ श्री अन्नपूर्णा देव्यै नमः ॥

श्री काशी विश्वनाथ मन्दिर
विश्वनाथघाट, वाराणसी

पूर्णास्तवः

प्रणेता :—

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य काशी पीठाधीश्वर

स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :—

राधेश्याम खेमका एम. ए., एल. एल. बी., साहित्यरत्न

पूर्णास्तवः

प्रणेता :—

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य काशी पीठाधीश्वर

स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती

मूल्य) २५ नये पैसे

प्रकाशक :—

राधेश्याम खेमका

एम. ए., एल. एल. बी., साहित्यरत्न

मुद्रक :—

श्रीगोविन्द मुद्रणालय,

बुलानाला, वाराणसी।

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा में साधना का एक अनुपम स्थान है। मनुष्य जीवन की सार्थकता का आधार स्थल भारतीय मनीषियों की दृष्टि में अगर कहीं बन सकता है तो व उसके द्वारा की गई अपनी साधना के ही उपक्रम में। यहाँ साधना से मेरा तात्पर्य सीमित-समय में की गई कोई अर्चना पूजा से नहीं बल्कि साधना की उस अवस्था से है जब साध्य और साधक का द्वैत मिटकर बीच के सारे व्यवधान लुप्त हो जाते हैं। यही वह स्थिती है जब उसके मानस पटल की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा भगवद् सन्निकटता के कारण एक अलौकिक आभा का उसके हृदय और मस्तिष्क में विकाश होता है। फलस्वरूप वह स्वभावतः जो कुछ सोचता है, करता है और कहता है, वह सब साक्षात् परमेश्वर का ही परम्परागत प्राकट्य होता है जिसके अवलम्बनमात्र से प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता है।

महर्षि श्री बाल्मीकि, श्री व्यास, भगवान श्रीशंकराचार्य और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी आदि मनीषि भगवद् प्राप्त

थे और यह भगवद्प्राप्ति एक लम्बी तपस्या और साधना के बाद ही सम्भव हो सकी थी। अतः इन मनीषियों के द्वारा रामायण श्रीमद्भागवत् आदि जो भी कुछ प्रादुर्भूत हुआ, सब स्वाभाविक था। आज भी वे जगत् की एक अमुल्य निधि हैं और इसके अवलम्बन से प्राणिमात्र का कल्याण भी सम्भव है।

प्रस्तुत 'पूर्णास्तव' भी इसी कोटि का श्री राजराजेश्वरी-त्रिपुरसुन्दरी पराम्बा षोडसी श्री अन्नपूर्णा का सुन्दर स्तवन है जो अनन्त श्री विभूषित काशी पीठाधीश्वर जगद्गुरु-शंकराचार्य स्वामी श्री महेश्वरानन्द जी सरस्वती के माध्यम से उपलब्ध हुआ है। पूज्यपाद स्वामीचरण एक उच्चकोटि के साधक हैं जिन्होंने अपने जीवन के ६५ वर्षों की अवधि में ज्ञान ज्ञानेश्वरी भगवती सरस्वती की अनुपम आराधना की है और आज भी जब वे अपने सांसारिक जीवन से मुक्त होकर ब्रह्म की तुरीयावस्था की ओर बढ़ रहे हैं, ऐसे समय में भी जब कभी महाराज श्रीजगज्जननी भगवती के चरणार्विन्द में विभोर होकर ध्यानस्थ हो जाते हैं, उसी अवस्था में भगवती के स्तवन के क्रम में जो कुछ स्वभावतः स्फुरण हुआ उसे लिपिबद्ध कर लिया गया। यही है श्री पूर्णास्तव स्तोत्र जो भगवती श्री जगदम्बिका की इच्छा से ही प्रादुर्भूत हो सका है।

यह पूर्णास्तव भाव और कला, साहित्य और उपासना, प्रत्येक दृष्टि से स्वयं मे परिपूर्ण है। यों तो भक्तजनों के

कल्याणार्थ स्वयं भगवती जगदम्बिका की स्नेहमयी कृपा से प्राप्त स्तोत्र की स्वाभाविक परिपूर्णता के सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता, फिर भी पूर्णास्तव की अलौकिक रसाल मञ्जरियों के सौरभ का पान करनेपर एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि यदि पाठक श्रद्धा और भक्तिभाव से विमल चित्त होकर स्तोत्र की इस सुधा-धारा में गोते लगायें तो निश्चित रूप से उनका हृदय तो निर्मल होगा ही, साथ ही वे विभोर हो उठेंगे पराम्बा के चरणकमलों में। यही तो है जगजीवन के कल्याण का प्रशस्त मार्ग जिसका निर्माण भूत-भावन-भगवान विश्वनाथ की पुनीत नगरी आज मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराघवेन्द्र के जन्मोत्सव पर श्री मज्जगद्गुरु शंकराचार्य के द्वारा सम्पन्न हो सका है मेरी आशा है भक्तजन इस स्तवन से अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

वाराणसी
चैत्र शु० ९ सं० २०११ } राधेश्याम खेमका

॥ श्री हरिः ॥

परिचय

'श्रीपूर्णास्तव' भक्तजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इसमें भक्तिभावभरित जिन विमल शब्द प्रसूनों का अत्यन्त शिलष्ट सङ्ग्रथन है, उनका श्रद्धा एवं तीव्र उत्कण्ठा से पुनः पुनः आघ्राण करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि 'इसकी कृति का श्रेय जिन्हें प्राप्त है वे ऊर्ध्वाम्नाय, सुमेरुपीठ, काशी के अधिपति जगद्गुरु, शङ्कराचार्य, श्रीस्वामी महेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज कितने उच्च कोटि के विरक्त, भक्त, एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रतिभासम्पन्न हैं।

इस 'श्रीपूर्णास्तव' की पदावलियों का पुनः पुन आम्रेडन करने पर श्रीआद्यशङ्कराचार्य की वह दिव्य पुनीत परम्परा हमारे स्मरणपथ में आ रही है, जिसके माध्यम से विविध दिव्य स्तोत्र भक्तजनों को प्रसाद रूप में प्राप्त हुए और ऐहिक, आमुष्मिक सर्वविध परिपूर्णता के आधायक सिद्ध हुए। पूज्य श्रीस्वामी महेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज श्रीआद्यशङ्कराचार्यजी के द्वारा प्रतिष्ठापित उत्कृष्ट धर्मपीठ सुमेरुपीठ पर समासीन हैं और उन्हीं की आदर्शपरम्परा के अनुरूप अपने मङ्गलमय स्तव से भक्तजनों को हृद्य सन्तोष प्रदान कर रहे हैं, यह परम आमोद का विषय है।

इस धर्मपीठ की उत्कृष्टता परशुराम कल्पसूत्र के तृतीय भाग, द्वितीय परिशिष्ट के वचनों से प्रमाणित है। वहाँ के प्रसङ्ग में

स्वयं भगवान् शङ्कर ने पार्वती से कहा है कि ' हे वरारोहे ! हम सत्य कह रहे हैं, इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि "आम्नाय बहुत से हैं, पर वे ऊर्ध्वाम्नाय की तुलना में नहीं आ सकते ।"

"आम्नाया बहवः सन्ति नोर्ध्वाम्नायस्य ते समाः ।
सत्यमेतद् वरारोहे ! नात्र कार्या विचारणा ।।"

"यह ऊर्ध्वाम्नाय काशी में श्रीआद्य शङ्कराचार्य के द्वारा 'सुमेरुपीठ' नाम से प्रतिष्ठापित किया गया" इसकी पुष्टि श्रीबलदेव उपाध्याय ने 'शङ्करदिग्विजय' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में की है ।

उसमें शेषाम्नाय के प्रसङ्ग से आद्य शङ्कराचार्य कृत मठाम्नायकी प्राचीन प्रति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है,जिसका अर्थ यह है कि 'चार आम्नायों के अतिरिक्त पांचवां ऊर्ध्वाम्नाय 'सुमेरुमठ' नाम से कहा जाता है । इसका सम्प्रदाय काशी में है ।"

"पञ्चमस्तूर्ध्व आम्नायः सुमेरुमठ उच्यते ।
सम्प्रदायोऽस्य काशी स्यात् सत्यज्ञानभिदे पदे ।।"

इस प्रसङ्ग से अपनी भूमिका के पृष्ठ ७५ में विभिन्न प्रमाणों के आधार पर उपाध्याजी ने लिखा है कि "ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत काशी का सुमेरुमठ माना जाता है, जहाँ आचार्य शङ्कर ने महेश्वर नामक शिष्य को अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया " अभी भी बङ्गाली टोला में सुमेरु मठ का जीर्ण भवन विद्यमान है, जिसका कुछ निर्धारित मात्रा में मासिक व्यय श्रीकाशिराज की ओर से दिया जाता है ।

ऐसे विशिष्ट पीठ की सम्प्रदायपरम्परा लुप्त रहे, यह सनातनी जगत् को खटक रहा था, इसीलिये सनातनी जगत् के लब्धप्रतिष्ठ नेता विश्ववन्द्य श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज (श्रीस्वामी हरिहरानन्द सरस्वतीजी महाराज) ने—जो धर्मरक्षा, विश्वरक्षा से सम्बद्ध अपनी अमर कृतियों एवं सर्वतोमुखी विशिष्ट प्रतिभा के कारण अभिनव आद्यशङ्कराचार्य हैं—ऊर्ध्वाम्नाय, सुमेरुपीठ के उद्धार का निश्चय किया, तथा विभिन्न सम्प्रदायों का पारस्परिक समन्वयात्मक सौमनस्य अनुप्राणित करने की आदर्शपरम्परा के अनुसार पहले श्रीरामानुजाचार्य की परम्पराप्राप्त पीठ को काशी में स्थापित कराकर बाद में सुमेरुपीठ स्थापित कराया और इसकी महिमा के अनुरूप श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज को इस पर समासीन करने की प्रेरणा प्रदान की।

आप पूर्वाश्रम के कवितार्किक-चक्रवर्ती श्रीमहादेव पाण्डेयजी (अध्यक्ष, संस्कृतमहाविद्यालय, काशीहिन्दूविश्व-विद्यालय) के रूप में भारत के लब्धप्रतिष्ठ पण्डित-प्रकाण्ड हैं। आपकी ख्यातिवाद, ध्वन्यालोक पर दिव्याञ्जन टीका, भारतशतक काव्य आदि अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। आपने "अधीतमध्यापितमर्जितं यशः" के अनुसार हर दृष्टियों से सर्वथा वितृष्ण होकर श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज से ही तीर्थराज प्रयाग में सम्वत् २०१४ की माघ शुद्ध द्वितीया को सन्यास-दीक्षा ली। उन्हीं दिनों श्रीअहिल्याबाई द्वारा निर्मित विश्वनाथ मन्दिर की शास्त्रीय मर्यादा भङ्ग हो गयी थी, अतः अपने शास्त्रमर्यादारक्षणार्थ मीरघाट पर एक स्थान खरीदकर श्रीकाशी विश्वनाथ की स्थापना की और उस घाट का नाम 'विश्वनाथ घाट' रखा। यद्यपि यह मन्दिर आप का निजी

और व्यक्तिगत है, तथापि आपने शास्त्रमर्यादानुसार सभी हिन्दुओं को इसमें दर्शन करने की समान सुविधा प्रदान की है। आज यह मन्दिर भक्तों की शास्त्रीय अराधना का मुख्य स्थान बना हुआ है। इस तरह आप काशीपति श्रीविश्वनाथ के प्रतिष्ठान के मुख्य अधिपति थे ही बाद में ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठ, काशी के भी अधिपति पद पर अभिषिक्त किये गये। आप का अभिषेक तीर्थराज प्रयाग में ही ज्योतिष्पीठाधीश्वर, जगद्गुरु शङ्कराचार्यश्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज के पावन करकमलों से सम्वत् २०१५ में सम्पन्न हुआ।

सचमुच ही आज ऊर्ध्वाम्नभ्य, सुमेरुपीठ पर आसीन श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज को पाकर सनातनी जगत् एक आवश्यक कृत्यसम्पादन की दृष्टि से अपने को पूर्ण कृत-कृत्य मान रहा है।

आप के प्रसादरूप में यह 'श्रीपूर्णास्तव' प्रकाशित होकर भक्तों की आराधना का प्रमुख शम्बल हो तथा निकट भविष्य में ही विश्वव्यापी सर्वविध श्रेय का कारण बने, यही हमारी श्रीकाशी विश्वनाथ के वरद चरणों में विनीत प्रार्थना है।

धर्मसङ्घ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड
वाराणसी

गङ्गाशङ्कर मिश्र

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीमदन्नपूर्णाविश्वनाथाभ्यां नमः ॥

पूर्णास्तवः

१

रसालैर्मृद्वीकारससमभिषिक्तद्रुमभवैः
सुधाधारासेकप्रभवमधुरैर्दाडिमफलैः ।
निभारूढैर्दिव्यैर्भगवति महार्हैः स्तवपदै-
स्तव स्तोतव्यत्वे मम चपलता किं समुचिता ॥

प्रस्तुत स्तोत्र-काव्य भक्तिभावभरित चित्र का कलात्मक समुच्छलन है। आचार्य महाशक्ति पराम्बा के स्तवन जैसे दुःसाध्य समारम्भ के उपक्रम में स्तोत्र के इस आद्य श्लोक द्वारा अपनी असमर्थता का प्रदर्शन करते हुए विनय प्रकट करते हैं। उनकी उक्ति है—

भगवति ! पूर्णे ! द्राक्षारस से सिक्त द्रुमों से उद्भूत आम्रफल तथा सुधाधारा के सेचन से प्रसूत दाड़िमफल जैसे मधुरतम एवं समर्थ पद तुम्हारे स्तवन के लिये अपेक्षित हैं—ऐसी स्थिति में श्रुतिकटु तथा असमर्थ पदों द्वारा स्तवन करने के लिये जो मैं अग्रसर हो रहा हूँ—क्या वह मेरी चपलता मात्र नहीं है ?

यहाँ यदि साहित्यिक सौन्दर्य के संघटक तत्त्वों का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि स्तोतव्य महाशक्ति के प्रति आचार्य की भक्ति ध्वनित हो रही है। देवविषयिणी रति के

ध्वनन से यहाँ भावध्वनि का प्रयोग हो सकता है। फल और पद में साम्य होने से पूर्णोपमा तो है ही, अक्षरसाम्यवश वृत्त्यनुप्रास का सौंदर्य भी तिरोहित नहीं है। छन्द शिखरिणी है। आचार्यों ने जहाँ विषयानुरूप छन्दों की चर्चा की है— वहाँ स्तोत्र के लिये शिखरिणी की ही बात की है।

२

परं वैणे क्वाणे स्वरमधुरिमास्वादनिकषे
पिकालौ कूजन्त्यां मधुमधुरमाकन्दविपिने।
मनोज्ञा बालाली मृदुलचलया किं कलगिरा
प्रसन्नान् कर्षन्ती जयति जनकादीन्न सहसा॥

शिशुसुलभ चपलता ही जब हेय है, तब तन्मूलक कार्य कहाँ तक उपादेय होगा ? आरंभणीय की अनुपादेयता जानकर भी प्रवृत्ति ही हो रही है, विरति नहीं। आचार्य उसका सोपपत्तिक समर्थन इस श्लोक से करते हुए कहते हैं—

किसी के गुणों को स्वरूपगत एवं संख्यागत वास्तविकता से बढ़ाकर कहना 'स्तवन' है। यहाँ शक्ति की तथाभूत वास्तविकता ही अज्ञेय है, फिर बढ़ाकर कहने की स्थिति ही कहाँ आती है ? तब भी कुछ कहना और उसको स्तवन मानना यद्यपि चपलता ही है—तथापि एक तो यह कि भक्ति-भाव का समुच्छलन अनायास वाणी में साकार हो फूट पड़ता है—अतः स्तोता इस विषय में अवक्तव्य है। दूसरे यह कि सृष्टि में स्वर-माधुर्य-जनित आनन्दसन्दोह की निकष वीणा-झंकार तथा मकरन्दपूरित रसालवनो की टहनियों पर बैठी हुई कोकिला की कल काकली जैसी कानों को आकृष्ट करनेवाली एक से एक श्लाघ्य वस्तुएँ हैं, फिर भी माता-पिता आदि को

अपनी मृदुल तथा चपल वाणी से आकृष्ट करती हुई शिशु-मण्डली अपना आपेक्षिक महत्त्व प्रदर्शित नहीं करती ? इसी प्रकार जगदम्बा की प्रसन्नता के लिये प्रस्तुत स्तवन शिश की बुद्धि का मुग्ध विलास है।

३

अतोऽहं सोत्साहस्तव जननि पादाब्जयुगलीं
मयूखश्रेणीभिः प्रसभमभिजेत्रीं हिमकरान् ।
समाधाय स्वान्ते विगततिमिरे गुम्फितगुणै-
र्नवैः स्तोत्रैर्माल्यैर्झगिति वरिवस्यामि भवतीम् ॥

उपर्युक्त तर्क के निष्कर्ष रूप में कहना है—

यही कारण है कि तुम्हारे उन चरणों का जो निजी रश्मि-राशि से अनायास चन्द्रमा को भी पराभूत कर देते हैं, निर्मल अन्तःकरण में ध्यानकर गुणमयी नव्य-स्तोत्र-मालिका से शीघ्र ही समर्चा करना चाहता हूँ।

यहाँ भी वृत्यनुप्रास ('त' का) और गुणमयी-स्तोत्र-माला में रूपक अलंकार है।

४

न भूमिर्नो बन्धुर्न खलु विभवो नास्ति च बलं
न विद्या नो वाणी न जननि कला कापि कलिता ।
न धैर्यं नौदार्यं न च कविकृतिर्नैव सुमति-
स्तथापि त्वद्भक्तिः प्रगुणगरिमा मां सुखयति ॥

उपर्युक्त तीन श्लोकों की भूमिका के पश्चात् प्रस्तुत श्लोक से स्तोत्र आरम्भ किया जा रहा है—

हे माता, मेरे पास भूमि, बंधु, भौतिक ऐश्वर्य, बल, विद्या, वाणी, कला, धैर्य, उदारता, कविता, एवं प्रतिभा आदि कुछ भी नहीं है। मुझे तो एकमात्र अति गौरवमयी तुम्हारी भक्ति ही आकण्ठ तृप्त एवं सुखी बनाये रखती है। वस्तुतः बन्धु आदि के न होने का तात्पर्य यह है कि वे हों भी तो क्या, उनसे पारमार्थिक शांति के लिए किसी प्रकार अनुकूलता नहीं मिलती इसलिए उस शांति के लिए बुभुक्षित इस जन को संतुष्ट करने वाला माँ तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं।

५

उमे मातर्दुर्गे धरणिधरराजन्यतनये
परेऽपर्णे पूर्णे पशुपतिसहैकान्तनिलये।
न पुत्रो नो माता परमकरुणागारहृदये
न चेन्मां रक्षेस्त्वं तदिह मम शून्या दश दिशः॥

उमे, दुर्गे, पर्वतराजपुत्रि! पराशक्तिस्वरूपे! अन्नपूर्णे! शिव के साथ एकान्त विहरणशीले! परमकरुणावरुणालये! मेरे लिए न तो वार्द्धक्य के सहारा पुत्र ही हैं और न तो सर्वतोभावेन ऐहिक, आमुष्मिक कल्याण की चिंता में परायण माता ही, तो इस निस्सहाय परिस्थिति में यदि आप भी रक्षा न करेंगी, अपना हाथ खींच लेंगी—तब तो इन दीन-हीन आँखों के लिये दसों दिशाएँ ही सूनी-सूनी सी दिखाई पड़ेंगी।

वृत्यनुप्रास की योजना यहाँ भी है।

६

अहं हीनो दीनः कपटघटनाटोपनिपुणः,
प्रमत्तश्चोन्मत्तो मम न तुलना जातु जगति।
उमे चेन्मे दघ्या मनसि चरणे हंसरमणे,
तदैव त्वं सत्यं भवसि करुणापूर्णहृदया॥

जननि ! मैं हर प्रकार से दीन-हीन एवं निस्सहाय हूँ। जहाँ तक मेरी अन्तरात्मा की बात है, कपटमयी घटनाओं का आटोप खड़ा करने में वह अत्यन्त निपुण है—वह इसी प्रकार की उधेड़ बुन में सदा पड़ा रहता है। प्रमाद एवं उन्माद की मात्रा तो यहाँ इतनी है कि फिर उस दृष्टि से मैं अद्वितीय हूँ। उमे! हंसविहारिणि, इस प्रकार तथाकथित इस जन के विक्षिप्त हृदय में भावनाराज्य में यदि तुम्हारे वे चरण जहाँ परमहंस रमते रहते हैं टिक गये, तभी मैं समझूँगा कि मातः तुममें सचमुच अपार करुणा भरी हुई है।

वृत्यनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

७

क्व वंशः सर्वांशे महितमहिमा भारतभुवां
क्वचाहं मन्दात्मा खलु निखिलदोषैकनिलयः।
तथापि त्वद्रागानुगपरमभक्तिप्रवणता-
पयःकुल्या सिञ्चेत्खलु समनुतप्तं मम मनः॥

जहाँ देवता लोग भी जन्म पाने के लिये तरसते रहते हैं, उस देश के प्रत्येक पक्ष से परिपूर्ण पवित्र वंश-परम्परा और कहाँ निखिल-दोष-निधान मन्दप्रज्ञ यह संतति-विधाता की कैसी अननुरूप योजना है। फिर भी तुम्हारी रागानुगा परमा भक्ति की जो मधुर धारा है, उसको पयःप्रणालिका की भाँति अनुकूलप्रवाह सांसारिक तापों से झुलसे हुए इस मन को निरन्तर सिक्त और शीतल बनाये रखती है।

पूर्वार्द्ध में विषम तथा उत्तरार्द्ध में रूपक एवं वृत्यनुप्रास की स्थिति है।

८

यदि ध्यायेन् मातर्मलिनतमदोषानगणितॉं-
स्तदा मे निस्तारः कथमपि युगान्तेऽपि न भवेत् ।
अये विश्वैकान्तोद्धरणरसिके रुद्रदयिते
त्वमेका कल्याणी तव च करुणा काचिदरुणा ॥

हे मातः ! यदि मेरे मलिनतम अगणित दोषों पर तुम ध्यान दोगी, उनकी दृष्टि से मेरा विचार करोगी तब तो युगान्त में भी मेरा निस्तार संभव नहीं है। शिवे ! फिर भी संतोष यही है कि तुम विश्व के उद्धार में बड़ा रस लेती हो। कल्याणरूपे, तुम्हारी करुणा में अदभुत अरुणाई भरी हुई है।

अन्तिम चरण के अन्तिम भाग में रुणा, रुणा का 'छेक' द्रष्टव्य है।

९

अनेकेऽकूपारप्रथितपृथुलापूर्वकृपया
भवत्याभीलाद्रेः परमपरपारं प्रगमिताः ।
समाधिर्वैश्योऽसौ स च सुरथराजस्तदपरे
गिरीशार्धाङ्गि ! त्वं मयि न करुणां हन्त बिभृषे ॥

जगदम्ब ! समुद्र में जल की भाँति अथाह करुणा से तुम भरी हुई हो, यही कारण है कि समाधि *वैश्य एवं सुरथराज जैसे न जाने कितनों को तुमने विपत्तियों के पहाड़ लँघा दिये। पर रुद्राणि ! खेद मेरा तब बढ़ जाता है, चिंता मुझे तब व्यग्र

* समाधि नामक वैश्य एवं सुरथराजा—दोनों की कथा दुर्गासप्तशती में आती है। वैसे देवी भागवत में भी राजा सुरथ का प्रसंग आया है।

कर देती है, हृदय मेरा तव उत्तर पाने के लिए व्याकुल हो जाता है–जब मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा नहीं होती। अम्ब ! मैं तुम्हारी कृपा-कणिका का भाजन क्यों नहीं बन पाता ?

१०

शरण्ये लोकानामभयवरदानोद्धृतकरे
दयार्द्रे दीनानां प्रतिकलमहासृष्टिनिपुणे।
शिवे सर्वज्ञे त्वं मयि परमतप्तेऽतिकृपणे
सुधाधारासारां दृशमयि कदा सन्निदधसे॥

संसार के सन्तप्त प्राणियों को छाया देनेवाली, अभय वरदान के लिये निरन्तर उठे हुए हाथोंवाली, दीनों पर दयावश करुणार्द्र हो जानेवाली, प्रतिक्षण महा*सृष्टि का विधान करनेवाली, शिवे ! घट-घट की जाननेवाली, इस परम दुःखी निःसहाय जन पर अपनी अमृतमयी दृष्टि का निक्षेप कब करोगी ?

---

* 'महासृष्टि'—शब्द का प्रयोग 'परात्रिंशिका' की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर किया है। वहाँ शुद्धविद्या को ही महासृष्टिरूपा कहा गया है। शुद्धविद्या महागुहा है, जहाँ अनन्तकोटि सृष्टि, स्थिति, संहारैक्यमयी महासृष्टि का समुल्लास होता रहता है। वहीं शक्ति आत्मीय विमल दर्पण पर अनन्त सृष्टि, स्थिति, संहारैक्यमयी महासृष्टि का स्फुरण करती रहती है। माया ग्रहण है, यहाँ भेदपूर्वक उसी सृष्टि का स्फुरण होता है। कहा है—"तदेवं भगवती परावाग्भूमिः स्वात्मनिर्मलदर्पणनिर्भासितानन्तसृष्टिस्थितिसंहारैक्यमयमहासृष्टिशक्ति..."

(परात्रिंशिका, पृ० ११२,८२)

११

न योगे निष्णातो न च खलु नदीष्णो मखविधौ
न तर्काब्धिं तीर्णो नहि विदितवेदान्तविभवः ।
पुराणेष्वासङ्गः क्षणमपि न मे जायत उमे-
ऽनुकम्पैका नौका तव जननि पारं नयतु नः ॥

न तो मैं योगशास्त्र में ही पारंगत हूँ और न यज्ञ की गूढ़तम क्रम-प्रक्रिया की ही थाह पा सका हूँ। सागर जैसे गंभीर तर्कशास्त्र के अवगाहन के लिए मेरे पास समर्थ बुद्धि ही कहाँ ? वेदान्त का वैभव तो मेरे पल्ले कभी पड़ा ही नहीं। जहाँतक पुराणों के अध्ययन-मनन की बात है—मैंने उसके लिए एक क्षण भी न दिया। अतः मातः ! उमे, इस दारुण संसार-सागर से उत्तीर्ण होने के लिये मुझ जैसे निरुपाय व्यक्ति के लिये तो एकमात्र तुम्हारे चरणकमल ही नौका बन सकें तो बन सकते हैं।

रूपक एवं वृत्यनुप्रास की योजना अच्छी बन पड़ी है।

१२

निमग्नो दुष्पारे दहनजटिलज्वालजलधा-
वसारे संसारे कलिमलिनकल्लोलकलिले।
अतीत्य त्वां मातर्हतविधिजनोद्धारिणि शिवे
न वीक्षे तत्कुर्या यदुचितमिदानीं गिरिसुते !

मैं ऐसे असार संसार-सागर में निमग्न हूँ—जहाँ दहन की जटिल ज्वालाएँ धाँय धाँय निरन्तर जलती रहती हैं, जिसका आर-पार कहीं यत्न करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जहाँ कलिमयी मलिन तरंगे सदा कोलाहल करती रहती हैं, जो

अनेकविध पंक से भरा हुआ है। हतभाग्यों के उद्धार में अनवरत रूप से निरत रहनेवाली माँ दुर्गे! ऐसी विकट परिस्थिति में तुम्हें छोड़कर मेरी भीतरी और बाहरी आँखें और कुछ नहीं देखती। अतः इस समय जो भी समुचित हो, जो कुछ भी मेरे लिए कल्याणकर हो—वही करो, हे माँ अम्बिके!

रूपक अलंकार द्वारा भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

१२

विपद्येऽहं सद्यस्तव शिशुरकाण्डे गुरुकृपे!
प्रहारैर्माराद्यैरनिशमतुलैर्दारुणरणे।
महामाये विश्वम्भरमहिषि शस्त्रास्त्रकुशले
प्रसीद त्वं शीघ्रं समव गिरिजे मामगतिकम्॥

गुरुकृपाशीले! महामाये! तुम्हारा यह शिशु सहसा ऐसे दारुण रण में विपन्न तथा निस्सहाय पड़ा हुआ है, जहाँ काम आदि दुर्निवार शत्रुओं के दुःसह प्रहार निरन्तर हो रहे हैं। अतः हे विश्वम्भरप्रिये! शस्त्रास्त्रनिपुणे! जननि गिरिजे! इस निरुपाय, अनन्यगति जन पर शीघ्र ही प्रसन्न हो और उसकी रक्षा करो।

प्रस्तुत श्लोक के पद एवं विशेषण बड़े ही साभिप्राय तथा मार्मिक हैं। 'त्वच्छिशुः' न कहकर 'तवशिशुः' प्रयोग षष्ठ्यर्थ सम्बधांश पर बल देता है और यह व्यक्त करता है कि यह तुम्हारा ही है और अभी निर्बल निस्सहाय शिशु की तरह है। ऐसे अनन्यगतिक शिशु पर किये जानेवाले दारुण प्रहार से बचानेके लिए जो विशेषताएँ एवं क्षमताएँ अपेक्षित हैं—वे सारी महाशक्ति के विशेषणों से व्यक्त हो रही हैं। दारुण

प्रहार से बचाने के लिए पहले दयार्द्र होना अपेक्षित है—अतः 'गुरुकृपे' कहा गया है और साथ ही साथ समुचित कृपाभाजनता भी 'तवशिशुः' से ध्वनित है। कामादि द्वारा किये गये प्रहार से बचाने की क्षमता 'शस्त्रास्त्रकुशले' में ही तो होगी।

यहाँ विशेषणों के साभिप्राय प्रयोग से परिकर तथा 'र' की असकृत् आवृत्ति से वृत्यनुप्रास नामक अलंकार है।

१४

गतः शुम्भो, भण्डः समरपतितः, सैरिभपति-
विहस्तो विध्वस्तौ मधुरुधिरबीजौ गिरिसुते।
तथाप्येते दैत्याः कुसुमशरमुख्या विजयिनः
प्रचण्डा दोर्दण्डैद्रुतमुपशमं नेतुमुचिताः॥

पर्वतराज-पुत्रि! शुम्भ,* भण्ड, महिषासुर, मधु एवं रक्तबीज जैसे दुर्दमनीय दानवों का तुमने संहार किया है, फिर भी वस्तुतः कामदेव जैसे प्रमुख दानव! जो तीनों लोक को परास्त किये हुए हैं, महाशक्ति, तुम्हारे प्रचण्ड भुजदण्डों द्वारा प्रशान्त किये जाने योग्य हैं।

---

* शुम्भ, महिषासुर, मधु एवं रक्तबीज का उल्लेख दुर्गा सप्तशती में तथा भण्डका त्रिपुरारहस्य (माहात्म्य काण्ड) में हुआ है।

भगवत् आराधन में मनुष्य का प्रधान शत्रु काम है, जिसका संहार बिना भगवत्कृपा के मानवशक्ति से परे है। अतः आचार्य भगवती से ही इस दोष को शान्त करने की प्रार्थना यहाँ कर रहे हैं।

१५

पयःपारावारे रजतगिरिराजेन्द्रशिखरे
परे लोके पूर्वस्थितिजुषि चमत्कारिचरिते ।
हृषीकेशार्धाङ्गी परशिवपराधीनहृदया
सुरज्येष्ठप्रेष्ठा त्वमिह परमैका विहरसे ॥

क्षीरसागर, रजतगिरि के शिखर पर लोक, ब्रह्मलोक आदि आदि स्थानों और स्थितियोंमें लोकोत्तरचरिते भवानि, परशिवाश्रिते, देवपूज्ये सरस्वति तुम्हीं एकमात्र विहरणपरायण हो ।

१६

विधात्री पात्री त्वं त्वमसि ननु हर्त्री त्रिजगतां
तिरोधात्री शक्तिर्भवसि निखिलानुग्रहकरी ।
त्वदिच्छासंनुन्नस्तव पतिरसौ पञ्चकृतिको
महेशः संप्रोक्तो भगवति चिदानन्दसरसि ॥

चिदानंदमयि ! भगवति ! उमे ! तुम्हीं तीनो लोकों का सर्जन, पालन एवं संहरण करती रहती हो। तुम्हीं निखिलभेदावभासक 'तिरोधान' शक्ति भी हो और तुम्हीं अभेदप्रकाशक अनुग्रहमयी भी हो। 'इच्छा' रूप में तुम्हीं परिणत होकर अपने नाथ को सतत पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह) कारी बनायी हो। तुम्हारे ही कारण वह शवा शिव बन पाता है।

---

[1]शैव एवं शाक्त आगमों में अन्य दर्शनों के सृष्टि, स्थिति एवं संहार से अतिरिक्त दो और कृत्यों—तिरोधान तथा अनुग्रह—का उल्लेख मिलता है। इसीलिए शैव शिव को और शक्ति के उपासक शक्ति को पञ्चकृ-

१७

न भक्तिर्नो शक्तिर्न च वत विरक्तिर्न विरति-
र्न शान्तिव्युत्पत्ती न च भवति दान्तिर्न च रतिः ।
मुधैवायासो मां ग्लपयति परिश्रान्तमनिशं
करालम्बं दत्त्वोद्धर सपदि मातङ्गतनये ॥

भक्ति एवं शक्ति तथा विरति और विरक्ति का मुझसे स्पर्श भी नहीं है, शम एवं व्युत्पत्ति तथा दम एवं रति की तो कथा ही मुझसे कोसों दूर है। विपरीत इसके लौकिक सुख रूपी मृगतृष्णा की शान्ति के लिये निरन्तर भ्रमणशील इस जन को अनेकविध आयास निरर्थक ही क्षीण करते जा रहे हैं। अतः अन्त में यही निवेदन है कि जननि! शीघ्र ही अपने सदय हाथों को मेरी ओर बढ़ाकर मुझे बचा लो।

'न' का अनुप्रास अच्छा बन पड़ा है।

१८

अशून्यः पैशुन्यैरनिशमदरिद्रोऽस्मि दुरितै-
रमोघः संमोहैर्मदमदिरयोदारहृदयः ।
विदग्धो विद्रोहैः प्रतिपलविलासश्च कलुषै-
स्तथाप्यन्ते रक्ष्यः शिशुरिति जनन्या गतिरियम् ॥

त्यकारी कहते हैं। सृष्टि, स्थिति एवं संहार तो प्रसिद्ध ही हैं—'तिरोधान' 'बंध' तथा 'भेदपूर्वक सृष्ट्यादि का आभास' परस्पर पर्याय हैं। इसी प्रकार 'अनुग्रह' उन्हीं की अभेदपूर्वक प्रतीति है। सृष्ट्यादि सकारण हैं पर तिरोधान और अनुग्रह स्वातन्त्र्य का उच्छलन है।

(१८)

पिशुनता मुझमें आपादमस्तक भरी हुई है। पाप की तो साकार प्रतिमा ही मुझे समझें। मोह का प्रभाव निरन्तर मुझपर छाया रहता है। मद की मदिरा से अन्तस् निरन्तर छका रहता है। विद्रोहविषयक विदग्धता का कहना ही क्या? कालुष्य का उल्लास नव-नव रूपों में यहाँ सदा ही होता रहता है। तथापि शिशु चाहे जैसा हो, पर माता की स्थिति तो यही हो कि वह शिशु की सदा रक्षा ही करे।

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' की छाया यहाँ जान पड़ती है। प्रयोगगत नवीन तत्त्व द्रष्टव्य है। अलंकार की दृष्टि से 'द' का असकृत् प्रयोग होने से वृत्य-अनुप्रास की स्थिति है।

१९

विशालाभिर्बाहुव्रततिभिरघव्रातभरिता
असंख्याता नीताः परतटमुमे क्लेशसरितः।
किमेकस्मिन्दासे मयि करुणयाभावि न तथा
सुधाब्धिः कुर्यात्किं शमनसदनं यापितवतः॥

उमे ! अपनी विशाल भुजाओं से आपने न जाने कितने घोर पापियों को भी दुस्सह दुःख की अगाध सरिताएँ पार करा दीं। पर न जाने क्या कारण है कि वही करुणा केवल इस एक जनपर न हुई ? माँ, अंततः जब यमपुरी में दिन काटने ही पड़ जायँगे तो अमृत का समुद्र ही उलट कर क्या करेगा ?

२०

स्थिता मूलाधारे परशिवपरीरम्भनिरता
ततः स्वाधिष्ठानं तदनु मणिपूरं गतवती।

प्रसन्नानाहत्य द्विरसनतनो शुद्धिसरसा
कृतप्रज्ञालोका दशशतदले राजसि रमे ॥

महाशक्तिस्वरूपे ! जगदम्ब ! सर्पाकार तेजोमयी महासुषुप्त कुण्डलिनी के रूप पहले तो मूलाधारस्थ परशिव को ३॥ आवृत्ति बाँधकर समालिङ्गित स्थिति में पड़ी रहती हो। साधक पर प्रसन्न होकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, वृद्धि एवं आज्ञा का भेदन करती हुई औंधे कमलों को ऊर्ध्वमुख तथा विकसित करती हुई, दलस्थ वर्णों को नाद रूप में परिणत करती अन्ततः सहस्रार में पहुँच जाती हो—वहाँ पूर्ण प्रज्ञा का आलोक विकीर्ण करती हुई विराजती रहती हो।

२१

परब्रह्मानन्दे परशिवरसास्वादनिभृते
सहस्रारे छन्ने सुरपतिपतद्ग्राहहरिते।
सृजद्रुद्रोपेन्द्रेश्वररुचिरपादेऽतिसुषमे
त्रिकोणे पर्यङ्के विलससि चिदानन्दलतिके॥

परमानंदमयी, परशिवरसास्वादमग्ना, चित्स्वरूपे माँ—तुम जिस त्रिकोणात्मक पर्यङ्क पर विलास करती हो, वह ऊर्ध्व

इस श्लोक में आचार्य ने कुण्डलिनी की उत्थापन तथा प्रत्यावर्तन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। विश्वनाथप्रणीत 'षट् चक्रविवृति' में दोनों प्रक्रियाओं का अच्छा विचार किया गया है। कुण्डलिनी षट्चक्र भेदपूर्वक सहस्रारपर पहुँचती है और वहाँ लाक्षाभ परमामृत का पानकर उन्मन्यादि सृष्टिमार्ग द्वारा परमशिव से पुनः मूलाधार नामक स्वस्थान में लौट आती है।

सहस्रार पर एकान्त में स्थित है। स्वयं देवेन्द्र ही वहाँ पीकदान हैं और ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा ईश्वर ही उस महापर्यङ्क के चारों पावे हैं।

२२

यमाद्यैरष्टाङ्गैः पवनचपलं मानसवयो
निरुन्धानाः सिद्धीः समम्रुपगताः प्रेन्य विरताः।
समाधिं संपन्ना यदमलचिदानन्दविसरो-
वगाहन्ते तत्त्वं त्वमसि गिरिजे तस्य परमम्॥

यम, नियम आदि अष्टांग योग के द्वारा वायु की भाँति अत्यन्त चपल मन को रुद्ध करनेवाले, ॐ'संयम' के साथ स्वयं आयी हुई अनेक विध सिद्धियों को प्राप्तकर भी उनके पार्यन्तिक विरसावसान को देखकर उनसे विरक्त रहने वाले समाधिस्थ पुत्र योगीजन जिस अमल चिदानंदमय सरोवर में स्नान करते हैं, हे गिरिजे, उस सरोवर का सर्वस्व तुम्हीं हो।

ॐ धारणा, ध्यान एवं समाधि का एकत्र होना ही 'संयम' है। पातञ्जल सूत्र ही है—'त्रयमेकत्र संयमः'। 'संयम' से अनेक विध-सिद्धियों या विभूतियों के उपलम्भ की बात भी पातञ्जल सूत्र के विभूति-पाद में वर्णित है। परवैराग्यवाला योगी इन त्रैगुण्य सिद्धियों में भी विरक्त होकर पार्यन्तिक समाधिका लाभ करते हैं और स्वरूप का साक्षात्कार करते है। पातञ्जल का आत्मस्वरूप चैतन्यरूप है, आगमों में आनंदात्मक विमर्शशक्ति संवलित चिद्रूप है। अद्वैतियों का आत्मा भी चिदानंदघन है। आगमिकों का कहना है कि सांख्य एवं पातञ्जल के यहाँ आनंद आत्मरूप नहीं है अतः वहाँ समाधिस्थ योगी आत्मस्थ होने पर भी आनंद लाभ नहीं कर सकता अथवा जिस स्तर को वे लोग समाधि कहते हैं—वहाँ आनंदमयता नहीं है। इसी प्रकार उनका अद्वैत

२३

त्रिलोकीं लावण्यद्युतिनिकरकीर्णां विदधती
विशाला शोभाभिस्तुलितपथपारीभिरतुला ।
समुद्याने कल्पद्रुमपरिमलोल्लासविसरे
महाकैलासेऽस्मिन् विहरति चिदानन्दलहरी ॥

वह चिदानन्दमयी महाशक्ति तीनों लोकों को अपनी लावण्य प्रभा से प्रकाशित करती हुई अपनी अपार एवं अतुलित शोभा में अप्रतिम रहकर महाकैलास के उस उद्यान विहार किया करती है--जहाँ कल्पद्रुम पुष्पों की अपार गन्ध राशि प्रसृत होती रहती है ।

२४

सश्रृङ्गारा श्यामा नवतरुणिमामोदमुदिरा
परे शम्भौ माद्यन्नयनमधुपा सालसतनुः ।
वने वल्लीमालावलयितलसत्कल्पविटपे
शिवानन्या धन्या जयति सुषमा काचिदसमा ॥

लतिकालिङ्गित कल्पद्रुमों से परिपूर्ण उद्यान में सुषमा की

वेदान्तियों के प्रति भी यह आक्षेप है कि यद्यपि अद्वैती स्थितप्रज्ञ को आत्मस्थ या स्वरूपस्थ होनेपर आनंदमयता का लाभ तो होता है, परंतु संसार की प्रतीति उसके लिए बाधितानुवृत्ति के रूप से है-वह आत्मरूप से आनंदमय नहीं प्रतीत होता, जब कि आगमिकों के यहाँ समाधिस्थ के लिए 'विकल्पोऽप्यमृतायते"—संसार भी आत्मरूप सच्चिदानंदमय प्रतीत होता है ।

साकार प्रतिमा शिवा जिस समय† शिव के साथ विहरण करती हुई अपूर्व उत्कर्ष लाभ करती है—उस समय उस श्यामा* की मुद्रा से शृंगार की धारा उद्वेल होकर प्रवाहित होती रहती है। अभिनव तरुणाई का उल्लास तो उसमें देखते ही बनता है। भगवान् शंकर के रूप मकरन्द के पान से नेत्र मत्त भ्रमर की भाँति छके-छके से कुछ और ही हुए रहते हैं, शरीर इन सब मधुर भावों के प्रभाव से अलसाया सा रहता है।

वृत्यनुप्रास एवं रूपक अलंकार का सहारा भाव व्यञ्जन में लिया गया है।

२५

शिवापाङ्गालोकोत्सवपरविहारैकरसिका
क्वणद्वीणाव्यञ्जत्परशिवचमत्कारचतुरा ।
मृदङ्गैः सङ्गीतध्वनिलयलसत्तालकलितै-
र्विमूर्च्छन्ती मूर्च्छां पशुपतितपःश्रीरुदयते ॥

यह महाशक्ति, जगदम्बा, पार्वती परशिव की मानों तपः-श्री ही उदित हुई है। उसके लिए परशिव का सरस अपाङ्ग-वीक्षण ऐसा श्लाघ्य उत्सव है, जिसमें विहार करने की उसकी अपूर्व रसिकता उमड़ी रहती है। झङ्कारमयी वीणा से विश्वम्भर को समाकृष्ट करने की क्षमता परम विस्मयावह है। संगीत के लयानुसार तालपूर्वक बजते हुए मृदङ्ग मञ्जुल मूर्च्छना*

---

† इसमें एकान्त विहार का इंगित है।

* शीतकाले भवेदुष्णा चोष्णकाले च शीतला।
प्रतप्तकाञ्चनाभासा श्यामा स्त्री परिकीर्त्तिता ॥ स्त्रीपरीक्षा

श्यामा वह नायिका है जो शीतकाल में उष्ण हो और उष्णकाल में शीत हो साथ ही उसका वर्ण प्रतप्त सुवर्ण का सा हो।

समन्वय सम्पन्न कर शिव को आवर्जित करनेवाली उनकी कला सराहनीय है। इसमें वृत्ति और छेक-दोनों तरह के अनुप्रास हैं।

२६

नमन्मध्यां सिंहासनपरिगतामद्रितनये
दधानां त्वामङ्गैर्भुवनजयिनीं कामपि रुचम्।
महेशानो नृत्यन् सह विधिहरीन्द्रादिविबुधै-
र्मुहुः पश्यन् भाग्यं गणयति न केषांचिदतुलम्॥

पर्वतराजपुत्रि ! कृशकटि ! और त्रिलोक विजयिनी कांति को अपने प्रत्येक अंग से वहन करनेवाली ! तुमको ब्रह्मा विष्णु तथा अन्यान्य देवताओं के साथ नृत्य करते हुए रुद्र देव जब सिंहासनासीन देखते हैं—तो अपने सामने किसी के भाग्य की गणना ही नहीं करते।

२७

हिरुग् गङ्गा तुङ्गैस्तरलतरभङ्गैर्विहसितै-
र्नकिर्मोहिन्येका हरमहृत शश्वच्छ्विभरैः।
सपत्न्यौ व्याधूय द्युतिशतसहस्रैर्विजयिभिः
शिवोत्सङ्गानङ्गाङ्गणहरणशोभे विजयसे॥

गंगा अपनी उत्तुंग एवं लोल लहरियों के मिस छलकती हुई हासच्छटा से तथा मोहिनी अपनी स्थिर सौन्दर्यराशि से

---

*मूर्च्छना:—नाट्यशास्त्र, संगीत पारिजात एवं संगीत रत्नाकर, आदि ग्रन्थों में मूर्च्छना का सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है। मूर्च्छना का सम्बन्ध स्वरों के आरोह एवं अवरोह से है।

शिव को आवर्जित न कर सकी, पर उन दोनों सपत्नियों को अपनी शत सहस्रगुण दीप्ति से तिरस्कृत करती हुई उसी शिव के क्रोडरूप अनङ्ग-प्राङ्गण की शोभा हरण करने वाली पार्वती विस्मयावह उत्कर्ष प्राप्त करती है।

वृत्यनुप्रास एवं रूपक।

२८

गणेशः कुत्रास्ते क्व नु खलु कुमारो द्रुतगतिः
क्व वा शास्ता यातश्छलनवनितान्यासतनयः।
पयः पीत्वा क्रीडा विदधतु धयन्त्यास्तत्र गिरो
विरोचन्ते मातर्मयि परमडिम्भेऽपि रचिताः॥

गणेश किधर चला गया, चपल कुमार कार्तिकेय कहाँ गया ? मोहिनी की थाती *शास्ता दिखाई नहीं पड़ता—इन सबों को चाहिए कि आकर दूध पी लें फिर निश्चिन्त होकर कहीं जायँ। माँ आपकी उक्त कल्याणद्योतक वाणी की सृष्टि कहीं इस बालक के विषय में भी रची जाय, तो कैसा रुचिर हो।

२९

तदानीं नो विष्णुः क्व नु खलु विधाता कुह वृषा
ध्वयराजन्नो रुद्रो गगनमपि माकीं न समयः।

---

* शास्ता:—पुराणों में इन्हें हरिहरपुत्र कहा गया है। इनकी उत्पत्ति मोहिनी से रुद्र के संसर्ग में आने पर हुई थी। केरल में आज भी इन्हें सद्यःफलद देवता के रूप में उपासित किया जाता है। उधर इनकी एक चिन्तनग्रस्तमुद्रा की प्रतिमा भी मिलती है जिसकी व्याख्या में कहा जाता है कि मोहिनी (विष्णु) की पत्नी लक्ष्मी को क्या संज्ञा दी जाय—यही चिंतनबीज है।

त्वमेवैका नित्या सदमलचिदानन्दमधुरा
मनोवाङ्मार्गाणामगममहिमा भासि सुतराम् ॥

जननि ! तब न तो ब्रह्मा और विष्णु ही थे, न रुद्र एवं इन्द्र ही। उस समय न काल था न गगन। तब केवल चिदानंदमयी, अमल मूर्ति, अचिन्त्यमहिमाशालिनी एक मात्र केवल तुम्हीं थी। इसमें प्रलयकाल की स्थिति का संकेत है।

३०

निधानं सिद्धीनां किमपि च विधानं त्रिजगतां
प्रधानं विश्वेषाममलमवधानं यमवताम्।
पिधानं दोषाणां सुखदमुपधानं पशुपतेः
स्फुरेदन्तःस्वान्तं निटिलशशिलेखं त्रिनयनम् ॥

जननि ! सिद्धिनिधान, संसार का अपूर्व विधान सर्वप्रधान संयमियों का अवधान, दोषों का अवच्छादन, पशुपति का सुखद उपधान तथा भालस्थ शशि सहित त्रिनयनात्मक ज्योतिराशि आप मेरे अन्तःकरण में स्फुरित हों।

३१

चिदानन्दाम्भोधेः परशिवपरातीतवपुषो
विभागोऽभूदाद्यः स च खलु विमर्शः प्रथिमगात्।
अपि स्यात् स्पन्दो वा ननु भवतु सेच्छा नगसुते
त्वमेवैका सर्वं त्वयि सकलसृष्टिः प्रणिहिता ॥

चिदानन्दमय परशिव का स्वातन्त्र्यवश प्रथम विभाग ही *'विमर्श' के नाम से प्रथित हुआ। उसे ही वसुगुप्त आदि अन्य

*विमर्शः—शैव आगमों में 'शिव' को 'प्रकाश' और शक्ति को 'विमर्श' कहा जाता है। परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब सृष्ट्युन्मुख होता है—तो वही 'प्रकाश' है।

तत्त्वज्ञों ने* 'स्पंद' के नाम से पुकारा। दूसरों ने उसे ही‡ 'इच्छा' शब्द से कहा। नाम चाहे कुछ हो, पर अर्थतः सब कुछ तुम्हीं हो और सब तुममें है।

३२

त्रिलोकीपुण्यश्रीस्तुहिननगराजस्य गरिमा
वलन्ती मेनायाः शुचिरुचिरवात्सल्यधरणिः।
सतीनामाद्यानां सुचरितसुवर्णैकनिकषः
परा लक्ष्मीः शम्भोस्त्रिपुरमधुरे त्वं विजयसे॥

अयि त्रिपुरसुन्दरि! तुम्हारा उत्कर्ष सर्वातिशायी है। शम्भु

और 'विमर्श' रूप से द्विदल होने का आभास देने लगता है। वहाँ वह इसी अपनी 'विमर्श' शक्ति से अपना बोध करता है। शिव स्वयं चैतन्य है पर "चैतन्य है"—यह बोध विमर्श अथवा शक्ति के बिना नहीं होता। अर्थात् 'शिव' अहंबोध के लिये शक्ति की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार शाक्तों की दृष्टि से 'विमर्श' महाशक्ति की ही सृष्ट्युन्मुख दशाविशेष है।

*स्पंद—स्पंद विज्ञानवेत्ताओं ने 'स्पन्दकारिका' में स्पंदतत्त्व का गम्भीर एवं सुविस्तृत विवेचन किया है। 'स्पंद' एक क्रिया है, पर स्वरूप-भेद से वह क्रिया नहीं भी है। किञ्चिच्चलनात्मक स्पंद या संकोचप्रसर स्वरूपगत ही होता रहता है—क्रिया की भाँति सर्वथा बहिर्गमन ही नहीं होता। सामान्य स्पंद शक्ति का ही परिणत रूप है। इसी सामान्य स्पन्द से विशेषस्पन्दात्मक समस्त सृष्टि का उद्भव होता है।

‡ इच्छा—अन्यान्य दर्शनों में ज्ञान, इच्छा और क्रिया' का क्रम है, पर शैव या शाक्त आगम में पहले 'इच्छा' फिर ज्ञान और क्रिया की स्थिति है। महाशक्ति ही सृष्ट्युन्मुख होकर 'विमर्श' 'स्पन्द' तथा 'इच्छा' आदि अनेक नामों से व्यवहृत होती रहती है।

की परालक्ष्मी तुम्हीं हो, तीनों लोकों की साकार पुण्यश्री हो, हिमालय की भूतिमती गरिमा हो, मेना की शुचि एवं रुचिर वात्सल्यभूमि हो, आद्य सती साध्वियों के सुचरित रूपी सुवर्ण की कसौटी हो।

३३

तपस्यन्ती चित्रं परमशिवतादात्म्यहृदया
सुषीमग्रीष्मार्त्तिप्रसहनरता स्थण्डिलशया।
अपर्णा क्षामाङ्गी प्रथमवटुना केनचिदुमा
प्रपन्ना मुग्धश्रीर्जयति जगदानन्दजननी॥

अपनी तपश्चर्या से आश्चर्य की सृष्टि करती हुई हृदय में शिव से अभेद का अनुभव करती हुई, भीषण शैल एवं ग्रीष्म की वेदना सहन करती हुई, ऊँची, नीची भूमि पर सोती हुई, स्वतः गिरे हुए पर्णों तक का आहार त्याग करती हुई, अंगों को कृशतम करती हुई, किसी आद्य ब्रह्मचारी की शरण जानेवाली, पवित्र सौन्दर्यवाली जगदानन्दमयी माँ पार्वती का महत्त्व कौन कह सकता है?

३४

विशालाक्षी तारा त्वमसि कमला त्वं च बगला
शताक्षी मातङ्गी त्वमिह भुवनेशी करशिराः।
विधात्री काली त्वं भवसि च किशोरी परशिवे
सुरक्षां भैरव्याकलय खलु धूमावति मम॥

भैरवी, तारा, कमला, बगला, धूमावती, मातंगी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता एवं काली, किशोरी (षोडशी) जैसी दश महाविद्याएँ तुम्हीं हो। अयि परशिवे! विशालाक्षी, शताक्षी, विधात्री मेरी भी सुरक्षा पर ध्यान दो।

३५

क्षितिस्त्वं पाथस्त्वं दहनपवनौ त्वं च गगनं
त्वमेका रूपाद्याश्चरमचरमुच्चावचमिदम् ।
नरस्त्वं नारी त्वं यदिह निखिलं तत् त्वमखिलं
जडात्मा चित्तात्मा शिवयुवति शश्वद् विहरसे ॥

पृथ्वी तुम हो, जल भी तुम्हीं हो, अग्नि एवं पवन तत्त्वतः तुम से पृथक् नहीं हैं। गगन की सत्ता तुम्हारी ही सत्ता है। रूप, रस आदि आदि यहाँ तक कि चर, अचर, ऊँचा, नीचा सब कुछ तुम्हीं हो। कहाँ तक कहा जाय—जहाँ जो कुछ है वह सब तुम्हीं हो। शिवे ! समस्त जड़ एवं चेतन के रूप में तुम्हीं बिहर रही हो।

३६

असत्प्राग् जातं चेद् भवतु सिकता स्नेहजननी
सदेवास्ते जन्यं तदलमखिलैः कारणगुणैः ।
विवर्त्तोऽयं तस्मात् सदमलचिदानन्दसरसो
महाशक्तिः पूर्णा तमिह विदधाना भ्रमयसे ॥

उत्पत्ति (सृष्टि के आदि) में यदि कार्य असत् हो, जैसा नैयायिक कहते हैं तो ऐसा मानना सिकता से स्नेह (तैल) की उत्पत्ति स्वीकार करना है। इसलिये सृष्टि की उत्पत्ति सत् कार्य का उद्भव माना जाय—तो इस पक्ष में निखिल कारणों का व्यापार ही निरर्थक हो जायगा। कारण यह कि जब कार्य पहले से ही विद्यमान है तो कारणव्यापार की आवश्यकता ही क्या ? फलतः यही मानना पड़ेगा कि अमलचिदानंद ब्रह्म का विवर्त ही यह संसार है। इस विवर्त का विधान करने-वाली महामाया सारी सृष्टि को भ्रमचक्र पर घुमा रही है।

३७

अलभ्या ब्रह्माद्यैरगममहिमा योगिनिकरैः
श्रुतीनामप्यन्ते परममिह मौग्ध्यं विलसितम् ।
कथंकारं ध्येयं क नु समुदयेत् पूजनविधि-
स्तदर्थं मूर्त्यात्मा भवसि ननु भक्ताभयकरी ॥

जननि ! ब्रह्मा आदि देवों के लिये भी तुम अलभ्य हो, वे भी तुम्हारी महिमा की थाह नहीं जान पाते । योगी लोग भी तुम्हारी महिमा को अगम्य ही ठहराते हैं । श्रुतियों ने भी तुम्हारे सम्बन्ध में अपनी मुग्धता का ही विलास प्रदर्शित किया है । तब भक्त जन तुम्हारा ध्यान क्या समझ कर करें ? तुम्हारी सपर्या का सम्पादन किस प्रकार हो ? ऐसा लगता है, भक्ताभयकरी जगदम्बा इसी प्रश्न के समाधानार्थ अनेक विग्रह ग्रहण करती है ।

३८

स्थितिः प्रेतावासे भुजगनिकुरम्बं द्युतिकथा
चितापांसुव्रातैः सततसरसोद्धूलनकला ।
स्रजो मुण्डा मातः प्रियपरिचिताः प्रेतनिवहा-
स्तथापीशैश्वर्यं चरणनमनं ते रचयति ॥

श्मशान ही जिसका आवास है और भुजंग ही अलंकरण । शरीर में उपलेप के उपकरण चिता के भस्मकण, मुण्डराशि ही माल्य, प्रेतगण ही परिचित सहचर आदि यद्यपि हैं, फिर भी जननि ! उनमें जो ईश का ऐश्वर्य है वह तुम्हारे चरण-नमन का फल है

३९

त एवैते धन्यास्त इह सुखिनस्तेऽतिकुशला-
स्त एते विद्वांसो नयविनयसंपत्तिभरिताः ।
जनुस्तेषां जातं कृतिनिपुणता तत्र सफला
त्वदेकात्मानो ये तव भजनशीलास्त्वयि रताः ॥

इस विश्व में वे ही लोग धन्य हैं, वे ही सुखी हैं, वे ही चतुर और विद्वान् हैं, वे ही नय, विनय एवं संपत्ति से परिपूर्ण हैं, उन्हीं का जन्म जन्म है, उन्हीं का कार्यकलाप सफल है, जो तुम से तादात्म्य प्राप्त कर चुके हैं, जो तुम्हारे भजन में लगे हुए हैं, जो तुममें ही निरन्तर निरत हैं ।

४०

मनो मे मा धावीद् विषयविषकान्तारसरणौ
पुनर्मे नो पातो भवतु भवभीमासु जनिषु ।
त्वयासाद्यं किं रे सततमनुतप्तभ्रमणतो
मृडान्याः पादाब्जे विलुठ जहि तापं चिरचितम् ॥

मेरा मन विषयरूपी विषैले अरण्य के मार्ग में न दौड़े, सृष्टि की निकृष्ट एवं क्लेशकर योनियों में मेरा पुनः पात न हो । रे मन ! अहर्निश सन्तापकर संसाराटवी के भ्रमण से तुमने क्या पा लिया ? तुम्हें तो चाहिए कि भवानी के चरणों पर लोट और चिरसंचित ताप त्याग ।

४१

स्थिरा काशी शश्वत् प्रबलमहिमा विश्वविदिता
वहन्तीयं गङ्गा तदुपकृतिमाप्ता विजयते ।

विमुक्तिं विश्वेशो दिशति युगमेतन्निगमयँ-
स्त्वयैवैते शक्ता निजनिजकृतौ शक्त्यतिशये ॥

सुस्थिर काशी की महिमा कितनी प्रबल है—यह विश्व-विदित है। काशी से उपकृत होकर स्वयं काशी का माहात्म्य-संबर्द्धन करनेवाली गंगा की अनुत्तमता किससे तिरोहित है? काशी में विश्वेश्वर मुक्ति का दान करते हुए भी सुने जाते हैं—जगदम्ब! ऐसा लगता है कि ये सभी तुम से ही शक्तिलाभ कर अपनी-अपनी कृति में समर्थ हो पाते हैं।

४२

शिवः सर्वं कर्त्तुं प्रभवति कृपासिन्धुरिह यद्
यदन्ये सिध्यन्ति प्रथितविभवाः कीर्त्तिकलिताः।
महाशक्तिस्तत्र प्रतिफलति साश्चर्यचरिता-
ऽन्नपूर्णा पूर्णैकाऽघटितघटनानाटकपटुः ॥

कृपानिधि शिव इस विश्व में जो कुछ भी करते हुए सफल होते हैं अथवा अन्यान्य लोग विभिन्न गुरुतर कार्यों में सिद्धि लाभ करते हुए विश्वविदित होते हैं—वस्तुतः देखा जाय तो इन सबके द्वारा वह महाशक्ति ही प्रतिफलित होकर अपना आश्चर्यमय व्यक्तित्व प्रकट करती है। वही पराशक्ति, अन्नपूर्णा, पूर्णा, अघटित घटना रूपी नाट्य में परम पटु है।

४३

सुधांशोः कान्तिस्त्वं द्युतिरसि रवेस्त्वं मधुरिमा
सितानां दुग्धानां घृतमसि सुगन्धः सुमनसाम्।
अपां शैत्यं वह्नेस्त्वमसि ननु दग्धृत्वमसमे
पदार्थानां सत्ता त्वमसि जननि त्वं न किमसि ॥

चन्द्रमा की कान्ति, सूर्य की द्युति, मिश्री की मधुरता, दुग्ध का सारात्मक घृत, पुष्पों की गंध, जल की शीतलता, वह्नि की दाहकता, पदार्थों की सत्ता आदि जहाँ जो कुछ भी है—वह सब तुम्हारा ही स्फार है, प्रसर है, जननि ! तुम क्या नहीं हो ?

४४

श्रुतिर्गायत्री त्वं स्मृतिरसि परा विन्ध्यनिलया
महत्पूर्वा काली त्वमसि खलु लक्ष्मीस्त्रिनयने ।
सरस्वत्येका त्वं त्वमसि यमुना त्वं त्रिपथगा
विमुक्तिस्त्वं नित्या हरमहिपि शर्मोर्मिसरसा ॥

अयि ! त्रिनयने, श्रुति, गायत्री, स्मृति, परा, विंध्यवासिनी, महाकाली, महालक्ष्मी महासरस्वती, गंगा, यमुना, नित्यविमुक्ति, तथा कल्याणमयी तरंगों से आपादमस्तक आर्द्र-सब कुछ तुम्हीं हो ।

४५

अधश्चोर्ध्वं पद्मं दशशतदलं रश्मिनिकरं
तयोरन्तर्भास्वद्रसकमलमत्रक्रमवती ।
सहस्रारं गत्वा पुनरनुगता मूलनिलयं
परीत्यैशं लिङ्गं स्वपिपि गिरिजे कुण्डलनया ॥

जननि ! दीप्तिमान् ऊर्ध्व एवं अधःसहस्रार के अन्तराल में विराजमान छः चक्रों का सक्रम भेद करती हुई सहस्रार तक पहुँचती हो और पुनः मूलाधारस्थ शाङ्कर लिंग को अपनी कुण्डलना से घेर कर सोती रहती हो* ।

---

* ऊर्ध्वाधः सहस्रार तथा कुण्डलिनी की उत्थापन एवं प्रत्यावर्तन-प्रक्रिया का संकेत प्रस्तुत श्लोक में वर्त्तमान है । कुण्डलिनी उत्थापन की

४६

श्रुतीनां सर्वासामुपलकठिनोत्तुङ्गशिखरे-
ऽतिवेलं व्यागुञ्जत्परपरमहंसालिमुखरे ।
भ्रमव्यासङ्गोत्थारुणिमविनिमग्ने तव पदे
भजे मातर्मल्लीकुसुमनिकरेभ्योऽपि मृदुले ॥

अन्नपूर्णे ! जननि ! मल्लिका की मृदुल कुसुमराशि से भी मृदुतर तुम्हारे उन चरणों की मैं वन्दना करता हूँ, जो सभी श्रुतियों के पाषाणकठिन, अगम्य एवं समुन्नत शिखरों, उपनिषदों या जहाँ उत्कृष्ट परमहंस भ्रमर के रूप में निरन्तर गुञ्जार करते रहते हैं, संचरण के व्यसनवश निरन्तर अरुणाभ बने रहते हैं ।

प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है कि यमी एवं नियमी साधक गुरुवक्त्र से मोक्षमार्ग के प्रकाश का क्रम जानकर 'हुंकार' के द्वारा मूलाधारस्थ वह्नि एवं पवन के आक्रम से कुण्डलिनी को प्रतप्त करे और इस प्रकार उसे ब्रह्मद्वार के मध्य की ओर उन्मुख कर दे । रुद्रयामल में कहा है--"हुङ्कारेण समुत्थाप्य शक्तिं स्वाधारसंस्थिताम्"--पश्चात् प्रबोधित कुण्डलिनी स्वयंभू, बाण एवं इतर नामक तीन लिंगों का भेदन करती हुई उसी छिद्र से ब्रह्मनाड़ी में पहुँचती है और सकल सदन को प्राप्त कर प्रदीपाभ परमशिव में दीप्त होती है । इसी को षट्चक्र निरूपण में यों कहा है--

"हूङ्कारेणैव देवीं यम-नियम-समभ्यासशीलः सुशीलो,
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममिति च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम् ।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति सतां शुद्धबुद्धिस्वभावो-
भित्वा तल्लिंगरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव गुप्तम् ॥

फिर वह कुण्डलिनी परामृत का पान कर परशिव से निकलकर मूलाधार में पुनः प्रसुप्त हो जाती है ।

४७

कदानन्दारण्ये त्रिदशझरिणीनीरनिकरे-
ऽवगाढस्तत्तीरे क्वचन विजने शैलनिलये।
त्वदीये पादाब्जेऽमृतसरसि मग्नः परमुदा
त्रियामाः संनेष्ये क्षणमिव समस्ताः प्रियशिवे ॥

वह समय कब आयेगा, जब आनंदवन में, गंगा के प्रवाह में अवगाहन करता हुआ उसी के किनारे कहीं एकान्त में बैठकर, पार्वति! तुम्हारे चरणपङ्कजरूपी अमृत सरोवर में मग्न हो अत्यंत आनंदपूर्वक रात की रात क्षण की तरह अनजाने बिता दूँगा? इस श्लोक में यह संकेत भी है कि देवी की उपासना रात में ही अधिक होनी चाहिए।

४८, ४६, ५०

सुधाधारासारैर्विधिवदभिषिच्याथ मृगजैः
सकर्पूरैर्भूयो मलयजरसैर्लेपिततनुम्।
परार्घ्यैर्वासोभिः सविधि परिधाप्यातिमृदुलैः
प्रसाध्यालङ्कारैर्मणिघटितचूलीप्रभृतिभिः॥
स्रजं कण्ठे बद्ध्वाच्छुरितकिरणां देवसरितः
सुवर्णाम्भोजेभ्यः समुपचितपूजां गिरिसुताम्।
सुगन्धैर्नैवेद्यैर्मधुमधुरमृद्वीरसभरै-
र्विसंभोज्य स्वर्णक्रमुकमुखताम्बूलललिताम्॥
शिवाङ्के पल्यङ्के ससुखमुपविष्टां भगवतीं
प्रसन्नां सस्नेहां गणपतिकुमारप्रमुदिताम्।

नवैः स्तोत्रैरेतैः प्रणिहितमनाः शक्तिकृपया
स्तुवन् ध्यायन्नर्चन् भवति मनुजः सर्वसफलः ॥

जो उपासक गिरिसुता को सुधाधारा से स्नान कराता हो, तदुपरान्त कर्पूरमिश्रित मृगमद एवं मलयज रस से उपलिप्त करता हो। पश्चात् सविधि बहुमूल्य वस्त्रों को पहनाकर मणि-जटित चूड़ी आदि उत्तमोत्तम अलंकारों से सुसज्जित करता हो, अनन्तर कण्ठ में माल्यार्पणपूर्वक मंदाकिनी से निकाले हुए सुनहले कमल के फूलों द्वारा समुचित सपर्य्या करता हो, और इसी क्रम से आगे अत्यंत मधुर एवं सुगंधित नैवेद्य से तृप्त करता हो, साथ ही एला, स्वर्णचूर्ण तथा सुपारी से गर्भित ताम्बूल से उनका मुख शोभित करता हो, फिर उनके इस प्रसन्न रूप का ध्यान करता हो कि "माँ जगद्वन्द्य शंकर के सुरम्य क्रोड में विराजमान है, मुद्रा प्रसन्न है, गणपति एवं कुमार के वात्सल्य से गद्गद है"—अंततः इन सब विधि विधानों के साथ जो समाहित चित्त होकर इन्हीं स्तोत्रों से स्तवन करता रहता है—वह सफल होता ही है।

५१

भगवति तव लीलां कृत्स्नशः स्तोतुकामा
विधिशिखिरथशेषा नैव पारं प्रयाताः।
तदिह जननि किंचित् किंचिदेवाहुरेते
तदनु सरणिरेषा शीलिता मादृशापि ॥

भगवति, तुम्हारी लीला के पूर्णतः स्तवन की इच्छा रखने-वाले चतुर्मुख, षण्मुख तथा सहस्रमुख भी वर्णन करते हुए पार नहीं पा सके, तथापि कुछ तो कहा ही—बस उन्हीं की सरणि मैंने भी पकड़ी है।

५२

पूर्णेऽपर्णेऽन्नपूर्णे भगवति भवती मादृशेऽकिंचनेऽपि
प्राप्ते ते पादपद्मं निखिलजनिजुषामेकमात्रं शरण्यम् ।
दृष्टिं तापोपतप्तोद्धरणपरिणतां शीतलामादधाना
सद्यो गाढान्धकारं मम हृदयगुहागह्वरस्थं धुनीहि ॥

भगवति, अन्नपूर्णे, मेरे जैसे अकिञ्चन की, जो समस्त प्राणियों के लिये शरणप्रद तुम्हारे चरणों की सहायता ले चुका है--आवश्यक है कि संतप्त जीवों का उद्धार करने के लिये त्वराशील नेत्रों वाली तुम, हृदय गुहा के गाढ़ अंधकार को शीघ्र दूर करो।

५३

स्तोत्रस्यैतस्य पठनात्करुणावरुणालयौ ।
अन्नपूर्णाविश्वनाथौ मोदेते सर्वकामदौ ॥

इस स्तोत्र के पाठ से करुणासागर भगवान् विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णा, जो सर्वकामप्रद हैं, प्रसन्न होते हैं।

५४

त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं सिद्धं स्तोत्रमिदं सुधीः ।
सर्वे मनोरथास्तस्य सद्यः सिध्यन्ति निश्चितम् ॥

जो विद्वान् इस सिद्ध स्तोत्र का समाहित होकर तीनों संध्या काल में सदा पाठ करेगा, उसके सभी मनोरथ निश्चित और शीघ्र ही पूरे होंगे।

५५

भक्तिस्तस्य करस्थिता भगवती मुक्तिः सदोपस्थिता
कामास्तस्य वशं गताः सुतसुहृद्वित्तानि लभ्यानि वै ।
विद्यागौरवकीर्त्तयोऽत्र मिलितास्तत्पार्श्वगाः सिद्धयो
यः स्तोत्रं समुदीरयेत् प्रणिहितः श्रीविश्वमातुः सदा ॥

विश्वजननी के इस स्तोत्र को समाहित होकर जो सदा पाठ करेगा, भगवद्भक्ति उसके लिए सदा करस्थ ही है, मुक्ति उसके समक्ष हाथ बाँधे खड़ी है, समस्त इच्छित उसके वशीभूत हैं, सुत, सुहृद् एवं वित्त सुलभ हैं, विद्या, गौरव एवं कीर्ति का तो कहना ही क्या ? सिद्धियाँ तो उसकी अनुवर्तिनी हैं ।

५६

शश्वद् हरिहराद्वैतं भावयँस्तन्मयं जगत् ।
पश्यन् विभाति यो नित्यं तन्नामगुणरूपवान् ॥

५७

तस्य श्रीदण्डिराजस्य करपात्रतपोनिधेः ।
संप्रसादपरिप्राप्तप्रकाशो वाङ्मयाम्बुधेः ॥

५८

अन्नपूर्णाविश्वनाथावाप्तसेवाकृतार्थधीः ।
शंकराचार्यपदभाङ् महेश्वरसरस्वती ॥

५९

स्तोत्रविल्वदलं दिव्यं पराम्बाचरणाम्बुजे ।
समर्पयति सश्रद्धं शान्तेन्द्रियमनोरथः ॥

हरि एवं हर के अद्वैत का भावन करते हुए संसार को तन्मय देखते हुए वाङ्मयाम्बुधि हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र) तपोनिधि के संप्रसाद से प्रकाश प्राप्त कर अन्नपूर्णा तथा विश्वनाथ की सेवा से अपने को कृतार्थ मानकर शंकराचार्य श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वती पराम्बा के चरण-कमलों में प्रशान्त चित्त हो श्रद्धापूर्वक इस स्तोत्र रूपी बिल्वदल को समर्पित कर रहे हैं।

६०

भक्तोऽपि श्रद्धया युक्तः स्तोत्ररत्नमुदीरयन्।
मुच्यते सर्वबन्धेभ्यस्तत्क्षणान्नात्र संशयः॥

६१

सश्रद्ध भक्त इस स्तोत्र का पाठ करता हुआ सब प्रकार के बन्धों से तत्क्षण निर्मुक्त हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं।

६२

श्रीविश्वेशान्नपूर्णापदसरसिजयोर्मुग्धमाध्वीकमत्तः
काशीपीठाधिनाथो हृदयनिहितयोः सर्वदा विष्णुनापि
तज्ज तोरुप्रसादोदितगुरुकवितावैभवः स्तोत्रमेतत्,
सान्द्रानन्दं समर्प्याक्षयसुखमयते शंकराचार्यभिक्षुः॥

विष्णु द्वारा भी ध्यात अन्नपूर्णा एवं विश्वनाथ के चरण कमल से झरते हुए मकरन्द के पान से तृप्त काशीपीठाधिनाथ भगवान् के महान् प्रसाद से कवितावैभव से सम्पन्न होकर बड़े आनन्द के साथ भिक्षु शङ्कराचार्य अक्षय सुख प्राप्त करते हैं।

६२

गावः सन्तु सुखावहाः प्रमुदिताः सन्त्वत्र लोकाः समे,
विद्यावृद्धिरुदेतु धर्मनिरता नार्यो नराश्चासताम् ।
सौजन्यं सममभ्युदेतु पृथिवी शस्यैः समृध्नोतु नः
शैवी भक्तिरलं जनेषु निखिले श्रीभारते वर्धताम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीपूज्यपादशिष्यस्य काशीस्थोर्ध्वाम्नायपीठाधीश्वरस्य श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीभगवतः कृतौ श्री पूर्णास्तवः सम्पूर्णः ।

स्तोत्र के अन्त में विश्व की कल्याणभावना से पूर्ण आचार्य की शुभ कामना व्यक्त होती है—

समस्त गौएँ सुखी हों, समस्त लोक प्रमुदित हो, विद्या की वृद्धि हो, नारी एवं नर धर्मनिरत हों, सौजन्य का उदय हो, पृथिवी शस्यश्यामला हो और समस्त भारत में शैवी दृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे ॥

श्री पं० राममूर्ति त्रिपाठी साहित्याचार्य एम० ए० पी-एच् डी० (प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश) कृत 'पूर्णास्तवविलास' नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ।

ॐ नमः शिवाय ।